लेख

मानसिक स्वास्थ्य और खुशहाली

किश्वर अहमद-शिराली

औरतों और लड़कियों के मनोविज्ञान का अध्ययन करते हुए कैरल गिलिगन ने एक "दीवार" (पितृसत्तात्मक परिवार और संस्कृति की) का वर्णन किया है। वह लिखती हैं, 'इस 'दीवार' से जूझते हुए हम सब अपना कुछ हिस्सा, कुछ आवाज़ सुरक्षा और स्वीकृति की ख़ातिर त्याग देते हैं। पर अफ़सोस तो यह है कि ये दीवार ही हमारी सच्चाई बनकर रह जाती है।'

भारतीय महिलाओं की वास्तविकता पर एक मोटा, गहरा पर्दा पड़ा हुआ है। उनके चेहरे, आवाज़, ताक़त, रोग, तनाव, रोष आदि अदृश्य और अनसुने ही रह जाते हैं। सामने अगर कुछ रह जाता है या दिखाई पड़ता है तो वह है उनकी शर्म, उनका शरीर, उनकी ग्लानि और उनका पागलपन।

मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों, चिकित्सीय प्रणाली और आम धारणाओं में लोगों को पुरुष-स्त्री, अमीर-ग़रीब, ब्राह्मण-शूद्र, ग्रामीण-शहरी जैसे सख़्त खांचों में बांट दिया जाता है। सत्ता और सत्ताहीन, सामान्य और असामान्य की बात ही नहीं की जाती। पर सच्चाई तो यही है कि हर वर्ग जाति, समुदाय में औरत सबसे निचली पायदान पर खड़ी है। एक व्यक्ति के रूप में उसकी पहचान मूक सेवक और एक अदृश्य व्यक्ति के समान ही है। उसके अंतहीन काम को मान, नाम और पहचान नहीं मिलती। दूसरों की भूख, ख़ुशी, दर्द उसके अपने हैं। पर उसकी अपनी ख़ुशी, ग़म और भूख खुद उससे भी छुपी रहती है। उसके वजूद, उसकी सच्चाई और पहचान उसके परिवार में मौजूद पुरुषों से ही है।

हर चिकित्सीय प्रणाली में, फिर चाहे वह आयुर्वेद हो या पश्चिमी ऐलोपैथी— दोनों ही में औरत की बीमारी उसके व्यक्तिगत रोगविज्ञान में केंद्रित है। इसके साथ ही भारतीय पारम्परिक विचारधारा में उसकी मानसिक बीमारी के लक्षण उसके पूर्व जन्म के बुरे कर्मों या उसके सामाजिक, धार्मिक, वैवाहिक कर्तव्यों की अवहेलना में निहित हैं। अक्सर औरतें अपने कर्मों और दायित्वों को नज़रअंदाज़ करने की ग्लानि को कम करने और हालात सुधारने के लिए धार्मिक अनुष्ठान, व्रत, उपवास, पूजा, जाप, दान आदि के रास्ते अपनाती हैं जो कुछ हद तक उसके अपराध बोध को कम करते हैं।

यह भी देखा गया है कि औरतें जाति और समुदाय से परे ग्लानि और शर्म की भावना को अपने शरीर से जोड़कर देखने की आदी होती हैं। भारतीय समाज में घरेलू औरत के शरीर को पुरुषों के लिए गढ़ा-रचा जाता है जिसके एवज़ में पुरुष उस शरीर की सुरक्षा का दायित्व उठाता है। इस स्त्री-शरीर की प्रमुख भूमिका प्रजनन और मातृत्व के लिए होती है। दूसरी ओर पुरुषों की नज़र को लुभाने और चुनौती देने वाली 'बाज़ारू' औरत का शरीर होता है। सड़क पर खड़ी होने वाली वेश्या एक उपभोग की वस्तु मात्र है जिसकी हिफ़ाज़त पुरुष की ज़िम्मेदारी नहीं है।

पितृसत्तात्मक समाज में व्यापक क़ानून है- स्त्री शरीर का इस्तेमाल और उसकी यौनिकता को दबाकर नियंत्रित करना। स्त्री यौनिकता का यह डर, उसकी सत्ता और उस पर काबू पाना ही पितृसत्तात्मक समाज का केन्द्र है जिसके लिए न सिर्फ़ शरीर बल्कि औरत के मन पर नियंत्रण करना भी आवश्यक बन जाता है।

किसी भी भारतीय परिवार को देखें तो औरत की ज़िम्मेदारी होती है कि वह परिवार और उसके सदस्यों की देखभाल और खुशहाली का ध्यान रखे। इस सुरक्षित-स्वर्ग रूपी ईकाई में अगर कोई बीमारी या कमतरी आती है तो यह माना जाता है कि औरत ने अपने दायित्वों को ठीक से पूरा नहीं किया। पर जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन आए पारम्परिक परिवार की यह छवि तड़कने लगी। औरत ने श्रम बाज़ार में क़दम रखा, उसे अपने अधिकारों और आज़ादी का आभास हुआ। पर परिवारों के लिए इस नई औरत को स्वीकारना आसान नहीं था।

मानसिक स्वास्थ्य के दायरे में देखें तो सत्ता अनेक रूपों में खुद को ढाल लेती है- प्यार, सुरक्षा, बहुत अधिक देखभाल आदि। औरतें अपनी सत्ताहीनता से उबरने के लिए अपनी गरिमा, आज़ादी, शारीरिक ओर मानसिक खुशहाली तक दांव पर लगा देती हैं। जुड़ाव पाने की ज़रूरत उनसे क्या कुछ नहीं करवा देती। हमारे समाज में औरतों की पहचान, यौनिकता और समूचा जीवन पुरुष और उनके मापदंडों द्वारा परिभाषित होता है। मानसिक स्वास्थ्य और उसके इलाज में भी औरत को 'मरीज़ा' और पुरुष को 'विशेषज्ञ' के तौर पर ही देखा जाता है। यहां पर भी वास्तविकता पितृसत्तात्मक नज़रों से ही देखी जाती है।

उत्तरी भारत में किए गए शोध अध्ययन के दौरान मैंने पाया कि औरतों के लिए उनकी मानसिक खुशहाली उनकी सम्पूर्णता से जुड़ी है। औरत के लिए उसकी भावनात्मक बीमारियों का सीधा संबंध उसके मानसिक, सामाजिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक अनुभवों से है।

भारत में औरतों को होने वाले दो प्रमुख भावनात्मक रोग हैं— उन्माद (हिस्टीरिया) और अवमनापन (व आत्महत्या)। उन्माद का सीधा संबंध औरतों से है। औरतों को मानसिक रोगी तभी समझा जाता है जब वे अपनी सामाजिक भूमिका का निबाह नहीं करती। औरतें अजीबो-ग़रीब दर्द, कमज़ोरी, सांस फूलने, हाथ पैर सुन्न पड़ने, भूल जाने जैसे लक्षणों का भी ज़िक्र करती हैं। कुछ औरतें 'देवी' आने का भी दावा करती हैं।

अवमनापन या डिप्रेशन भी एक दूसरा आम मानसिक भावनात्मक रोग है जो औरतों में पाया जाता है। आंकड़ों के अनुसार औरतें पुरुषों की तुलना में तीन गुना अधिक उदासीनता का सामना करती हैं और पुरुषों से दो गुना अधिक बार आत्महत्या करने का प्रयास करती हैं। उदासीनता दरअसल औरत की अपने प्रति नफ़रत, गुस्से और ग्लानि की अभिव्यक्ति है। हम खुद को कुसूरवार मानकर अपराधबोध से घिर जाते हैं जिसके नतीजतन हमें उदासीनता घेर लेती है।

औरतों ने खुद को आरोग्य रखने के अनेक नायाब तरीक़े निकाले हैं। औरतों के पास एक गुप्त मंत्र होता है, एक औरताना शक्ति होती है, एक दैविक साधना की तरह जो उन्हें कठिन से कठिन परिस्थिति से उबरने का

हौसला देती है। इस सामाजिक-धार्मिक रहस्यमयी शक्ति से एकाकार होकर औरतें उन्मुक्त और आज़ाद महसूस कर पाती हैं। खुद को देवी की शक्ति में गिरफ़्तार करके औरतें अपने रोग (हिस्टीरिया) के साथ-साथ अपने वजूद पर लदे निष्क्रियता के सामाजिक चोले को भी उतार फैंकती हैं। देवी, देवता, पीर, बाबा, फकीर आदि की आवाज़ और व्यवहार बनाकर वे अपनी बेचारगी और सत्ताहीनता को एक डरावनी शक्ति में तब्दील कर लेती हैं। ऐसा करते समय वे पितृसत्तात्मक समाज में अपने कमतर और निम्न दर्जे को चुनौती देती हैं।

मेरा मानना है कि 'आरोग्य' होने की ये प्रक्रिया दरअसल सामाजिक बंधनों को तोड़ने का एक तरीक़ा है। किसी 'दूसरे' की पहचान लेकर किसी उस देवी, माता या पीर बाबा का व्यवहार अपनाकर, जिसके साथ उसका खास जुड़ाव है, वह अपने अंदर के एक निजी और आत्मीय संबंध को सबके समाने उजागर कर देती है। एक सामाजिक सांस्कृतिक मान्यता को आधार बनाकर ये औरतें अपने ऊपर नियंत्रण करने वालों को अपनी शर्तों पर अपने समाने घुटने टेकने को मजबूर कर देती हैं। अपने रोष, गुस्से, तकलीफ़ों को इस 'मर्दाने' तरीक़े से अभिव्यक्त करके वे एक राहत, एक आज़ादी महसूस कर लेती हैं। और विडम्बना यही है कि अपने रोग, अपनी बीमारी के ज़रिए वे खुद को खुशहाल और स्वस्थ रखने के तरीक़े खोज लेती हैं।

कुछ इसी तरह औरतें सतसंग, कीर्तन, रतजगे जैसे धार्मिक सामूहिक कार्यक्रमों में खुद को पूरी तरह खुला

छोड़ देती हैं। नाचना, गाना या फिर 'देवी' बन जाना और अपनी इच्छानुसार व्यवहार करना ऐसे जमघटों में खासतौर पर देखा जा सकता है। इन सुरक्षित जगहों और स्वतंत्र माहौल में उनकी आरोग्य महसूस करने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

अंत में यही कहना चाहूंगी कि मेरे अनुसार जब हम किसी मानसिक बीमारी का निदान करने के बारे में सोचते हैं तो सबसे पहले हमें विशेषज्ञ या डॉक्टर और मरीज़ वाली मानसिकता को पीछे छोड़ना होगा। हमें मानना होगा कि कई परिस्थितियां ऐसी हो सकती है जिनका कोई जवाब हमारे पास नहीं होगा। ऐसे सवालों और हालातों से हमें मिलकर जूझना होगा। हमारे पास आने वाली औरतों के अनुभवों, उनके अहसासों से सीखना होगा। और इस लिहाज़ से नारीवाद अपने आप में ही औरतों के रोग का निदान हो सकता है।

जब औरतों को अपने अनुभव, अपना गुस्सा, आंसू, अवमनना और यहां तक कि अपना पागलपन बांटने की जगह मिलती है तब हम मिलकर एक दूसरे की देखभाल और साथ दे सकते हैं। ऐसी जगह में वर्ग, जाति, शिक्षा,धर्म, शहरी अपना सर उठा सकते हैं पर सिर्फ़ हमारी सच्चाइयों और हमारे सामाजीकरण के संदर्भ में। यहां हम सब एक साथ मिलकर जुड़ सकते हैं और जुड़ाव बना सकते हैं। हम औरतें अपने बिखरे हुए जीवन को आरोग्य और खुशहाल बनाने के एक से ज़्यादा रास्ते तलाश कर सकती हैं।

किश्वर अहमद-शिराली
नारीवादी मनोचिकित्सक व शिक्षिका हैं।